'घासलेटी साहित्य' विरोधी आंदोलन और 'अबलाओं का इन्साफ़' : एक दिलचस्प साहित्यिक विवाद का पुनरावलोकन

'आधुनिकता' की जिस तस्वीर को 'औपनिवेशिक ज्ञानकांड' ने रचा, वह अपने निर्माण काल से ही विवाद का कारण रहा है । उन्नीसवीं सदी से ही लोग 'औपनिवेशिक आधुनिकता' की इस पूरी परियोजना को लेकर अपनी-अपनी राय ज़ाहिर कर रहे थे । इसपर इतिहासकारों ने गम्भीरता-पूर्वक विचार किया है । हिन्दी साहित्य के भीतर भी इस 'आधुनिकता' को लेकर परस्पर विरोधी स्वर सुनाई दे रहे थे और इस 'औपनिवेशिक आधुनिकता' के भीतर, किसी भी तरह की यौनिकता के सवाल को 'अश्लीलता' के पर्याय के रूप में देखना, एक ख़ास वर्ग के लोगों की सोची समझी प्रतिक्रिया थी । इन्हीं लोगों ने हिन्दी साहित्य के भीतर 'घासलेटी साहित्य' विरोधी आंदोलन शुरू किया था ।

इस 'आंदोलन' की तात्कालिक भूमिका तब बननी शुरू हुई, जब कलकत्ता के मारवाड़ियों से जुड़े 'गोविंद-भवन' के 'व्यभिचार' के बारे में 'चाँद' पत्रिका ने मोर्चा खोला । उन दिनो 'चाँद' पत्रिका के लगभग हर अंक में मारवाड़ी समाज से जुड़े लेखों के अंत में यह सम्पादकीय टिप्पणी रहती थी,

"हमें यह कहते लज्जा आती है कि आज का अधिकांश मारवाड़ी-समाज विद्या से वंचित, रुढ़ियों का ग़ुलाम, ढकोसलों का पोषक और कायरता का अवतार है । कोई ऐसी कुरीति नहीं, जो इस अभागे समाज को रसातल की ओर न खींच रही हो ! यों तो व्यभिचार सभी समाज में होता है, किंतु इस समाज की व्यभिचार-लीला अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी है ।"[1]

बीसवीं सदी के तीसरे दशक में हिन्दी के सार्वजनिक जगत में हुए 'चाकलेट विवाद' को लेकर काफ़ी चर्चा हो चुकी है । 'फ़्रेंचेस्का ओर्सीनी', 'रुथ वनिता', 'चारु गुप्ता' आदि लोगों ने इस पर बात की है और इन्होंने इस विवाद के केंद्र में पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की कहानी 'चाकलेट' को रखा है। इनके अनुसार 'लौंडेबाज़ी' पर लिखी गयी इस कहानी के इर्द-गिर्द ही यह विवाद चक्कर काटता रहा । लेकिन तथाकथित 'घासलेटी साहित्य' के विरोध में चल रहे इस 'आंदोलन' ने एक और किताब को अपना निशाना बना रखा था ।

'चाँद' कार्यालय इलाहाबाद से जुलाई 1927 ई. में एक किताब प्रकाशित हुई । नाम था, 'अबलाओं का इंसाफ़, सत्य घटनाओं के आधार पर लिखित क्रांतिकारी पुस्तक', लेखिका श्रीमती स्फुरना देवी । यह किताब आत्मकथा की शैली में लिखी गयी है और लेखिका ने ब्राह्मण और मारवाड़ी समाज के भीतर स्त्रियों के शोषण को सामने रखा है । आत्मकथाएँ साहित्य के साथ-साथ व्यक्ति, समाज और इतिहास को जानने का भी महत्वपूर्ण स्रोत होती हैं । हिंदी में दूसरी भारतीय भाषाओं के मुक़ाबले स्त्री आत्मकथाएँ कम लिखी गयी हैं । जो लिखी भी गयी हैं, उनकी चर्चा कम हुई है । बांग्ला में लिखी गयी 'राससुंदरी देवी' की आत्मकथा 'आमार जीबन' पर तनिका सरकार ने महत्वपूर्ण लेखन किया है, वे लिखती हैं, "शैली के स्तर पर आत्मकथा, शब्द और दुनिया के बीच की चारदीवारी को खंडित करता है और यह भ्रम पैदा करता है कि हम जो पढ़ रहे हैं, वह ज़िंदगी है, कोई आलेख नहीं ।"

यह बात किसी भी स्त्री आत्मकथा के विषय में सही मालूम देती है, ख़ासकर औपनिवेशिक काल के संदर्भ में स्त्रियों द्वारा लिखी गयी आत्मकथाएँ साहित्येतिहास और संस्कृति की अमूल्य धरोहर हैं; क्योंकि स्त्रियाँ ख़ुद अपनी स्थिति के विषय में क्या सोचती थी, या अपनी दोयम स्थिति को वे किस तरह देखती थी, यह बात किसी दूसरे स्रोत से जान सकना असम्भव है । ख़ैर, 'अबलाओं का इन्साफ़' की भूमिका में लेखिका कहतीं हैं कि वह लिखना नहीं

---

[1] रामरख सिंह सहगल, सं०, चाँद, इलाहाबाद.

जानती इसलिए किन्हीं 'सहृदय महाशय' की सहायता से उन्होंने इसे लिखवाया है । यहाँ इस किताब का परिचय ज़रूरी है ।

'अबलाओं का इन्साफ़' यमराज के दरबार में शोषित, पीड़ित और दुखियारी स्त्रियों के द्वारा न्याय की आस में सुनायी गयी आपबीती है । यमराज का दरबार इसलिए, क्योंकि लेखिका को लौकिक दरबारों से न्याय मिलने की कोई आशा नहीं है । किताब के पहले ही उद्धरण में लिखा है,

"धर्माचार्य, राजा, मंत्री, पुरोहित, पंडित, पंच, हाकिम, न्यायाधीश - सब पुरुष ही पुरुष है । यहाँ तक वर्तमान समय की सर्वोच्च न्यायालय पार्लामेंट की प्रिवी -काउंसिल और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों (International Tribunal of Justice) पर भी पुरुष विराजमान है । जो फ़रीक हो, वही न्यायाधीश नहीं हो सकता; अतएव पुरुषों और हमारे झगड़े का इन्साफ़ लौकिक अदालत में नहीं हो सकता ।"[2]

इस किताब में किसी एक स्त्री की नहीं बल्कि आठ स्त्रियों की आपबीती सुनायी गयी है । ये अलग-अलग अध्यायों के रूप में है । पहला अध्याय 'अबलाओं का इन्साफ' है, इसमें 'राधा' नामक स्त्री का बयान है । अगले अध्याय क्रमशः - 'कृष्णा का बयान', 'भानमती का बयान', 'सुशीला का बयान', 'गंगा का बयान', 'मनोरमा का बयान', 'आनन्दी का बयान', 'कमला का बयान' और 'क्षमा (सहनशीलता) देवी की बहस' है । ये अध्याय बहुत ही सुनियोजित रूप से लिखे गए हैं । आख़िरी अध्याय की शुरुआत इस तरह होती है,

"पूर्वार्द्ध में वर्णित आठ स्त्रियों के बयान हो चुकने पर भगवान धर्मराज ने देवताओं से कहा - अब अन्य हिन्दू स्त्रियों के बयान लेने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती; क्योंकि उनके भी बयान प्रायः इन आठ स्त्रियों के समान ही होंगे, अतः इस काम में समय नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है ।

देवता लोग - नहीं भगवन, अब अधिक हिंदू स्त्रियों के बयान लेने की आवश्यकता नहीं है । इस समाज की परिस्थिति आठ स्त्रियों के बयानों से अच्छी तरह मालूम हो गई।

फिर धर्मराज ने क्षमा देवी की तरफ़ देख कर कहा - देवी जी, अब इन स्त्रियों के बचाव में आपको जो कुछ कहना हो, कहिए ।"[3]

इस किताब में बीसवीं सदी के न्यायालय का दृश्य खिंचा गया लगता है । क्षमा देवी सरकारी वक़ील की भूमिका में दिखाई देती हैं । आरोपी महिलाओं ने जो अपनी 'आपबीती' सुनायी है, उसपर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे । पर यहाँ इतना कहना ज़रूरी है, कि ये 'आपबीती' कहानियाँ मारवाड़ियों और ब्राह्मण जाती के अंदर स्त्रियों के शोषण का वर्णन, इतने मज़े ले-लेकर करती हैं कि इनको पढ़ते हुए आपको मनोहर कहानियाँ या सरस सलिल पढ़ने का भ्रम हो सकता है ।

इस पुस्तक के प्रकाशित होते ही, इसके ख़िलाफ़ कलकत्ता के मारवाड़ी समाज ने मोर्चा खोल दिया । 12 सितम्बर 1927 के 'विश्वामित्र' में 'अबलाओं का इन्साफ़' और 'चाँद' पत्रिका के विरोध में कलकत्ता के मारवाड़ियों की एक सभा का विवरण इस तरह छपा,

"गत गुरुवार को मारवाड़ी-सभा की एक असाधारण बैठक बाबू गजाधर जी बागड़ीया अटर्नी-ऐट-लॉ के सभापतित्व में हुई, जिसमें निम्नलिखित मंतव्य स्थिर हुआ ।

"... 'चाँद' कार्यालय से प्रकाशित "अबलाओं का इन्साफ़" में औपन्यासिक रूप में मारवाड़ी-समाज पर घृणित, झूठे, और अश्लील एवं अपमानकारी आक्षेप किए गए हैं । अतएव आज की यह सभा यह निश्चय करती है कि उक्त पुस्तक की बिक्री शीघ्र ही बंद कर दी जाय, और उसके मुखपृष्ठ का चित्र एवं अश्लील भाग पृथक कर दिया

---

[2] स्फुरना देवी, संपादन : नैया, (2013), अबलाओं का इन्साफ़, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 27.

[3] वही, पृष्ठ 143.

जाय । यदि प्रकाशक उक्त कार्य न करें, तो उचित कार्रवाई की जाय । - मोतीलाल देवड़ा, सं० मंत्री, मारवाड़ी सभा ।"[4]

इसके बाद 'चाँद' पत्रिका को कई क़ानूनी नोटिस भेजे गये । धमकियाँ दी गयीं । पत्रिका के बहिष्कार का आह्वान किया गया । इस विरोध का केंद्र कलकत्ता था । वहाँ पोस्टर लगाए गए और पर्चे बाँटे गए । लेकिन बड़ी बात ये हुई कि मारवाड़ियों ने हिन्दी के कई पत्रों को 'चाँद' पत्रिका के विरोध का मंच बना दिया । 'चाँद', अक्टूबर, 1927, के 'विविध-विषय' शीर्षक के अंतर्गत सम्पादक ने लिखा, "इस आंदोलन पर सनातनी मारवाड़ियों के ख़रीदे हुए 'भारतमित्र' की सभ्यतापूर्ण टिप्पणी नीचे दी जा रही है,..।"[5] 'भारत मित्र' के बारे में 'चाँद' के सम्पादक की यह व्यंग्यपूर्ण टिप्पणी इस बात का प्रमाण है कि राष्ट्रीय आंदोलन के समय हिन्दी की पत्रिकाएँ सुधार और सुधार-विरोधी के रूप में खेमेबंद थीं । जहाँ 'चाँद' पत्रिका और उसके 'सुधार अभियान' के विरोधी उसपर 'अश्लीलता' को फैलाने का आरोप लगाते रहे; वहीं 'चाँद' में 'हमारा मारवाड़ी समाज' के नाम से एक कॉलम लगातार छप रहा था । इसमें मारवाड़ी समाज के लोगों के नाम से लेख छपा करते थे । जो मारवाड़ी समाज की 'कुरीतियों' के वर्णन के द्वारा, उसके ख़िलाफ़ संघर्ष करने के आह्वान से भरी रहती थीं ।

1927 के ही 'चाँद' पत्रिका में एक व्यंग्य चित्र भी प्रकाशित हुआ । इसमें कुछ लोग -जिनके पहनावे से वे ब्राह्मण और बनिया दिख रहे हैं- पृथ्वी पर खड़े होकर 'चाँद' के ऊपर थूक रहे हैं और कहते जा रहे हैं, "ऐसी गंदी किताब ! थू-थू-थू...।" इसका नतीजा वही होता है, जो हो सकता है ! सारी गंदगी थूकने वालों के चेहरे पर ही आ रही है। पर वे रुक नहीं रहे, थूकते ही जा रहे हैं ! इस व्यंग्य चित्र का शीर्षक है, 'चाँद' पर थू-थू ! आगे लिखा है, "'चाँद का बहिष्कार (सहयोगी 'मतवाला' की कृपा से प्राप्त) ।"[6]

यहाँ ठहरकर यह विचार करने की ज़रूरत है कि कैसे समाज-सुधार का समर्थन करने वाली पत्रिकाएँ और लोग 'अश्लीलता' फैलाने के आरोपी ठहराए जाने लगे । इसकी शुरुआत हम 'चाकलेट' कहानी के प्रकाशन से मान सकते हैं । कलकता से प्रकाशित 'मतवाला' के 31 मई, सन 1924 के अंक में पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की यह कहानी प्रकाशित हुई थी । समलैंगिक सम्बन्धों, ख़ासकर छोटे लड़कों के यौन शोषण पर केंद्रित इन कहानियों ने तहलका मचा दिया । उस समय को याद करते हुए उग्र जी लिखते हैं,

"'चाकलेट' कहानी मतवाला में छपी । समाचार-पत्रों में उस कहानी ने एक सन्नाटा सा डाल दिया । समाचार-पत्रों के पाठकों में तूफ़ान-सा उठा दिया । मतवाला-सम्पादक के पास और इन अवलियों के लेखक के पास शिकायत और प्रशंसा दोनो की, एक या नहीं, गाही-की-गाही चिट्ठियाँ आने लगीं । गम्भीरों के माथे पर शिकन चित्रित हो गयी; ओछों के कपोलों पर छिछोरा अट्टहास गुलाल मल गया । एक दिन में, एक पुकार में "चाकलेट" शब्द हिन्दी जगत के कोने-कोने में व्याप्त हो गया ! .... "चाकलेट" के बाद - कई कई महीनों के अंतर में - मैंने चार कहानियाँ और लिखीं - जिनके नाम हैं - "पालट", "हम फ़िदाए लखनऊ", "कमरिया नागिन-सी बलखाय" और "चाकलेट चर्चा"। अंतिम कहानी लिखते-लिखते मुझे बम्बई चला जाना पड़ा । फिर, 124 ए० के वारण्ट ने मुझे तलब किया, "स्वदेश" (विजयांक) सम्पादन के लिए केस चला और मैं नौ महीने के लिए जेल गर्भ में ठेल दिया गाय ।"[7]

---

[4] चाँद, 1927.

[5] चाँद, अक्टूबर, 1927.

[6] वही, पृष्ठ 129.

[7] पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', (संस्करण,1980), चाकलेट, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 9.

यही वह समय था, जब हिन्दी साहित्य के रंगमंच पर 'विशाल भारत' मासिक पत्र और उसके संपादक बनारसीदास चतुर्वेदी का आगमन होता है । प्रसिद्ध पत्रकार और 'मॉडर्न रिव्यू' के सम्पादक रामानन्द चैटर्जी 'विशाल भारत' के प्रकाशक थे । आर्थिक रूप से मज़बूत इस पत्र के 'सम्पादक' जी मारवाड़ियों के दुलारे थे । लेकिन बनारसीदास चतुर्वेदी की सबसे बड़ी ताक़त ये थी, कि वे महात्मा गांधी के बहुत क़रीबी के रूप में जाने जाते थे । कम-से-कम वह ख़ुद यही प्रचारित करते थे । 1926-27 तक महात्मा गांधी न सिर्फ़ राजनीति, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक सवालों के भी आख़िरी जवाब के रूप में देखे जाने लगे थे । सवाल कोई भी हो, उसपर गांधी जी की राय सबसे ज़्यादा वज़न रखती थी । बनारसीदास चतुर्वेदी हिन्दी साहित्य के लोकवृत्त में स्वघोषित रूप से गांधी जी के प्रतिनिधि थे । इसलिए जब उन्हें 'चाकलेट' के ख़िलाफ़ चलाए जा रहे अपने 'आंदोलन' में 'अबलाओं का इन्साफ़' और 'चाँद' पत्रिका से ख़फ़ा मारवाड़ियों का समर्थन मिला तो उन्होंने एक युद्ध छेड़ दिया ।

समाज के भीतर महिलाओं ख़ासकर विधवाओं, छोटी लड़कियों और लड़कों के यौन शोषण को विषय बनाने वाले साहित्य को बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'घासलेट साहित्य' का नाम दिया । इस तरह के साहित्य का लक्ष्य चाहे समाज सुधार ही क्यों न हो, बनारसीदास चतुर्वेदी ने इन सबको 'अश्लीलता' को बढ़ावा देने वाला 'घासलेट साहित्य' घोषित कर दिया । विशाल भारत में प्रकाशित 'घासलेटी साहित्य' नामक लेख को समाप्त करते हुए लेखक बनारसीदास चतुर्वेदी जी लिखते हैं,

"'विशाल-भारत' के अंक में हमने 'घासलेटी साहित्य' के समर्थकों के सम्मुख 3 प्रस्ताव रखे थे :-

(1) घासलेटी साहित्य की जाँच हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापतियों द्वारा कराई जाय । श्रीयुत श्रीधर पाठक, पं. पद्मसिंह शर्मा, श्रीयुत पुरुषोत्तमदास टण्डन प्रभृति के पास उसके नमूने भेजे जाएँ और उन लोगों के निर्णय को स्वीकार किया जाए ।

(2) हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन में इस विषय का एक प्रस्ताव रखकर उपस्थित जनता से निर्णय करा लिया जाए ।

(3) किसी भी कालेज के 20-25 लड़कों और लड़कियों को यह साहित्य पढ़ने के लिए दिया जाय और उनके मन पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है, यह लिखने के लिए उनसे कहा जाय ।

... क्या हम आशा करें कि चाकलेट के लेखक महोदय हमारे इस चैलेंज को स्वीकार करेंगे ? हमारा यह चैलेंज उन्हीं के लिए नहीं 'हिन्दू-पंच' के 'व्यभिचार-मंदिर' के लेखक और आगरेवाली के भावी लेखक मि० पी० और 'अबलाओं का इन्साफ़' की लेखिका श्रीमती स्फूरणा देवी (या श्रीमान स्फुरण देव) को भी है । क्या इन क्रांतिकारी (या विप्लवकारी ?) लेखकों में इतना साहस है ?"[8]

साहित्यिक प्रश्न किस तरह से रचनाकार या आलोचक से अलग करके भीड़ को सौंप दिया जाता है, यह प्रस्ताव इसका प्रमाण है । किसी भी रचना का मूल्याँकन न तो लेखक कर सकता है और न ही पाठक । बनारसीदास चतुर्वेदी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के गोरखपुर अधिवेशन में 'घासलेटी साहित्य' के ख़िलाफ़ प्रस्ताव पास करा लिया । अब वे 'विशाल भारत' में हिन्दी साहित्यकारों को इस आशय का निर्देश भी देने लगे । विशाल भारत के सम्पादकीय को समाप्त करते हुए चतुर्वेदी जी लिखते हैं,

"प्रतिभाशाली लेखकों - जो इस गिरे हुए देश को उठाने में अपनी रचनाओं द्वारा पूरी सहायता दे सकते हैं, देना चाहते हैं, और समझते हैं कि दे भी रहे हैं - सावधान रहना चाहिये कि कहीं उनकी पुस्तकें '...बाजोंकी हजामत और '...बाजोंकी मरम्मत' की श्रेणियों में न जा पड़े । वरना समझदार लोग, पुरानी चालकी घासलेटी कविता में किए गए

---

[8] बनारसीदास चतुर्वेदी, सं०, (1928), विशाल भारत, वर्ष 1, खंड 1.

तेलिनों और तमोलिनो कि वर्णन की भाँति इनसे भी घृणा करने लगेंगे, और दाम देकर तो क्या, कोई पुरस्कार लेकर भी पढ़ने को तय्यार न होगा ।"[9]

बनारसीदास चतुर्वेदी यही नहीं रुके । हिन्दी में तथाकथित अश्लील साहित्य के प्रकाशन से कई अंग्रेज़ अधिकारी भी 'चिंतित' रहते थे । उनका सहयोग भी इन्हें मिला । इस समय प्रकाशित विशाल भारत पत्रिका का लगभग हर अंक 'अश्लीलता' की ऐसी परिभाषाओं से भरा रहता था । विशाल भारत के इसी अंक में 'विलायत में घासलेटी साहित्य' शीर्षक के अंतर्गत, वे इंग्लैण्ड में 'The Well of Loneliness' नामक किताब के प्रकाशन पर प्रतिबंध लगाए जाने को, एक आदर्श उदाहरण के रूप में सामने रखते हैं ।

"पुस्तक की लेखिका मिस रेडक्लिफ़ नामक कोई महिला हैं, और उसकी भूमिका हैब्लोक एलिस ने, जो कामशास्त्र के मनोविज्ञान के आचार्य माने जाते हैं, लिखी है ।"

हैब्लोक एलिस अपने समय के बड़े मनोवैज्ञानिक थे । इस पुस्तक को प्रतिबंधित किए जाने पर लेखिका की प्रतिक्रिया के बारे में चतुर्वेदी जी लिखते हैं,

"..इसपर लेखिका मिस रेडक्लिफ़ ने, जिन्हें श्रीमती स्फुरना देवी की बहन कहना चाहिए, 'इवनिंग स्टैण्डर्ड' नामक पत्र में बहुत रोना रोया है, और अंत में यह कहकर संतोष किया है कि "As a pioneer I have been attacked but the pioneers must always expect that fate" अर्थात "मार्गदर्शकों का विरोध हमेशा ही होता है और उन्हें अपने इस दुर्भाग्य के लिये तय्यार ही रहना चाहिये ।" हमारे क्रांतिकारी लेखक भी, जो अपने को 'Tomorrow' कल या 'भविष्य' के लेखक समझते हैं, यही कहा करते हैं ।

इंग्लैण्ड जैसे स्वाधीन देश में घासलेटी साहित्य के रोकने के लिए समालोचक और सरकार किस दृढ़ता से काम लेते हैं, इसका उदाहरण पाठकों के सामने उपस्थित है । और हमारे देश में ? घासलेटी साहित्य के प्रचारक अपने को क्रांतिकारी कहते हुए जनता के सम्मानपात्र बने हुए हैं, और बड़े बड़े प्रतिष्ठित पत्र और लेखक या तो उनकी रचनाओं की प्रशंसायुक्त समालोचना प्रकाशित करते हैं, या फिर मौन धारण करना ही श्रेयस्कर समझते हैं ! एक स्वाधीन और एक पराधीन देश में यही अंतर है ।"[10]

विशाल भारत के इसी अंक में 'काका साहब कालेलकर' के किसी 'सूरत साहित्य मण्डल' के सामने पढ़े गए भाषण को उद्धृत किया गया । काका साहब कालेलकर का कहना था, "... जब पतित समाज मनुष्य पर गुज़रने वाली तमाम आपत्तियों का संग्रह-स्थान बन चुका हो, करोड़ों यदि भूख से नहीं तो निराशा से पीड़ित हो, पुरुषार्थ की न्यूनता हो और अज्ञान चौमासे की कराल रात्रि सा चारों ओर फैला हुआ हो, ऐसे अवसर पर हृदय की दुर्बलता बढ़ाने वाला, नामर्द वासनाओं को सुन्दर करके बतलाने-वाला, और अनेक हीं वृत्तियों का समर्थक सत्यानाशी साहित्य पैदा नहीं करना चाहिये । ... 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी', 'तोता मैना की कथा' और 'चन्द्रकांता संतति' के वायुमण्डल में से अभी मुश्किल से हम निकल पाए हैं, तो क्या इसी वायुमण्डल की सुधरी हुई आवृत्तियाँ छाप-छापकर हम उन्नति कर सकेंगे ? दुर्गुण का कलेवर अगर सुंदर हो, उसकी पोशाक प्रतिष्ठित हो, तो इस कारण वह कम मारक नहीं होता, बल्कि अधिक ही होता है ।"[11]

यह बड़ी दिलचस्प बात है कि अपने को 'गांधीवादी' बताने वाले काका कालेलकर जैसे लोग, न सिर्फ़ 'पुरुषार्थ की न्यूनता' का रोना रो रहे थे, बल्कि 'नामर्द वासनाओं' के ख़िलाफ़ लोगों का आह्वान भी कर रहे थे । 'चन्द्रकांता संतति' जैसे लोकप्रिय उपन्यास जिसको पढ़ने के लिए असंख्य लोगों ने हिन्दी सिखी; इन लोगों की नज़र में 'दुर्गुण', 'घासलेटी' और अश्लील था । लगता है, महात्मा गांधी के द्वारा साध्य और साधन की एकता के आह्वान को

---

[9] विशाल भारत, वर्ष 1, खंड, 2.

[10] वही.

[11] वही.

'गांधीवादियों' ने इसी रूप में अपनाया और प्रचारित किया। साधन की शुचिता और पवित्रता कैसे हिन्दू, ब्राह्मणवादी, पितृसत्तात्मक आदर्शों का रूप लेती थी, इसे समझना मुश्किल नहीं है।

'घासलेटी साहित्य' के विवाद में यह बात याद रखनी चाहिये कि इसमें शामिल दोनो पक्षों का समर्थन मारवाड़ी समाज के सेठ-साहूकार कर रहे थे। जहाँ मारवाड़ी समाज के भीतर सुधार चाहने वाले रामगोपाल मोहता जैसे करोड़पति चाँद पत्रिका की हर तरह से सहायता कर रहे थे, वहीं बनारसीदास चतुर्वेदी मारवाड़ी सेठों में सुधार-विरोधी गुट के लाड़ले थे। 'घासलेटी साहित्य' के नाम से चलाए जा रहे इस पूरे आंदोलन में एक बड़ा मोड़ तब आया जब 'चाँद' के दिसम्बर, 1928 के अंक में "चतुर्वेदी जी की घासलेट चर्चा, 'अबलाओं का इन्साफ़' की निष्पक्ष आलोचना" नामक एक लेख प्रकाशित हुआ। इसके लेखक थे, श्री जनार्दन भट्ट जी, एम० ए०। वे लिखते हैं,

"आजकल जैसे हर बात में अराजकता का भूत सरकार को दिखाई पड़ा करता है, उसी तरह हिन्दी के कुछ लेखकों को बहुत सी पुस्तकों और लेखों में गंदगी का परनाला बहता नज़र आता है। ... मेरा चतुर्वेदी जी से नम्र निवेदन है कि यदि उन्हें अश्लीलता की इतनी तलाश है, तो उनको वेद और पुराण से शुरू करना चाहिये; क्योंकि जितना इन ग्रंथों का प्रचार और प्रभाव जनता के बीच है, उतना "चाकलेट" जैसी पुस्तकों का नहीं। ... ख़ैर, अगर ख़ाली "चाकलेट" ही पर चतुर्वेदी जी की नाराज़गी होती तो कोई बात न थी, परंतु उन्होंने बहुत सी ऐसी पुस्तकों को भी अश्लील पुस्तकों की सूची में शामिल कर दिया है, जो एकमात्र समाज सुधार के पवित्र उद्देश्य से लिखी गयी है। ऐसी एक पुस्तक 'अबलाओं का इन्साफ़' है। पुस्तक क्या है, हिन्दू समाज में अत्याचार की भट्टी में जलते हुए अबलाओं के दिल का दर्द भरा तराना है, या अंधे हिन्दू-समाज की आँखों में फिर से ज्योति पैदा करने वाला ममीरे का सुर्मा है, या मौत के मुख में पड़ी हुई हिन्दू-जाति को फिर से जिलाने वाला सजीवन लटका है। परंतु चतुर्वेदी जी को उसमें सिवा अश्लीलता के कुछ भी नहीं सूझा।"[12]

जनार्दन भट्ट आगे लिखते हैं, "मैंने सुना है, इस अत्यन्त उत्तम और उपयोगी पुस्तक के लेखक कोई "ग़ैर ज़िम्मेवार" नहीं, बल्कि बहुत ही "ज़िम्मेवार" सज्जन हैं। कोई भुक्खड़ हिन्दी के लेखक नहीं, बल्कि एक करोड़पती आसामी है, जो लक्ष्मी के कृपापात्र होकर भी लक्ष्मीवाहन नहीं।"[13]

इसके आगे लेखक ने 'अबलाओं का इन्साफ़' पुस्तक से बड़े-बड़े अंशों को उद्धृत करते हुए बहस की है। वे यह साबित करना चाहते थे, कि लेखक कोई स्त्री हो, या उसके छद्म नाम से किसी पुरुष ने लिखा हो, हमें रचना के विषय पर बात करनी चाहिये। पर, ये हो न सका। विशाल-भारत के अगले अंक में आचार्य किशोरीदास वाजपेयी का लेख प्रकाशित हुआ।

1928 से 'विशाल भारत' पत्रिका के अंकों में 'घासलेट साहित्य' नाम से एक कॉलम लगातार छपने लगा था। इस शीर्षक के अंतर्गत "श्री किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री" ने जनार्दन भट्ट के 'चाँद' में छपे लेख का जवाब दिया। किशोरीदास वाजपेयी ने अश्लीलता सम्बंधी आरोपों के साथ कुछ ऐसे सवाल और ख़ुलासे किए, जिसने 'घासलेटी साहित्य' के विवाद को एक अंजाम तक पहुँचा दिया। उन्होंने लिखा,

"यह एक चाल सी पड़ गई है कि अपना पक्ष समर्थन करने के लिए लोग सबसे पहले वेदों का ही नाम अनुकूल अथवा प्रतिकूल रूपों में ले लेते हैं। आपका यह कहना कि वेदों और पुराणों का प्रचार और प्रभाव 'चाकलेट' जैसी पुस्तकों से बहुत ज़्यादा है, बिलकुल हास्यजनक है।"[14]

---

[12] जनार्दन भट्ट, (दिसम्बर, 1928), चाँद, पृष्ठ-385.

[13] वही.

[14] किशोरीदास बाजपेयी शास्त्री, (1928), वर्ष 1, खंड 2, अंक 6.

इसके बाद वाजपेयी जी इस बहस को वेदों के अपमान तक ले जाते हैं, जो देखते-देखते फिर हिन्दू पहचान में बदल जाता है । इसके बाद उन्होंने एक ऐसा सवाल उठाया जिसका जवाब और किसी के पास नहीं था ।

"... उस घासलेटी पुस्तक के लेखक ने अपना नाम न देकर एक स्त्री का नाम क्यों दिया है ? क्या भट्ट जी यह भी बतलाने की कृपा करेंगे ?

लेखक की प्रशंसा भट्टजी ने की है वह निराधार है । उक्त पुस्तक के लेखक करोड़पति चाहे भले हों, उनके रुपये हमने गिने नहीं, और न उनका करोड़पतित्व पुस्तक लिखने की ज़िम्मेवारी में कुछ मदद ही करता है, परन्तु उनकी विद्वता के बारे में जो भट्ट जी ने लिखा है, बिलकुल गप्प है । मैं स्वयं कुछ अर्से से बीकानेर में हूँ, जहाँ उक्त पुस्तक (अबलाओं का इन्साफ़) के लेखक रहते हैं । उन्हें ख़ूब जानता हूँ । दर्शनशास्त्र और धर्मशास्त्रों का जानना कुछ खिलवाड़ नहीं हैं, जैसा कि शायद भट्ट जी ने समझ रक्खा है ! पुस्तक के लेखक एक सेठ जी हैं । उपन्यासों के शौक़ीन ज़रूर हैं । हिन्दी की मामूली टूटी फूटी जानते हैं । 'अबलाओं का इन्साफ़' आपने बड़ी सड़ियल भाषा में लिखा था, और उसे स्वयं मैंने ही शुद्ध करके सम्पादन किया था, पर संपादिका बना दी गईं श्रीमती (विद्यावती) सहगल, जैसे लेखिका श्रीमती सफुर्ना देवी ।

इसकी कथा यों है । जब उक्त पुस्तक के छपने के विषय में लिखापढ़ी हो रही थी तब मैं 'चाँद' कार्यालय में ही था, वह पत्र भी मैंने पढ़ा, जिसमें लिखा था कि यह पुस्तक श्रीमती सफुर्ना देवी के नाम से छपेगी । फिर सहगल जी ने पुस्तक को मुझे देखने के लिए दिया और पूछा कि पुस्तक कैसी है ? सम्मति दीजिए । मैंने कहा- "पुस्तक की बिक्री ख़ूब होगी, पर जनता पर असर अच्छा न पड़ेगा ।" पुस्तक मुझे सौंपी गई, शुद्ध करने और सम्पादन करने के लिये । मैंने यह काम कर दिया, क्योंकि वेतनभोगी था । अपनी ड्यूटी (duty) पूरी कर दी । इसके बाद 'चाँद' कार्यालय से गुरुकुल (हरिद्वार) चला गया मेरे पीछे इसकी सम्पादिका श्रीमती सहगल बना दी गईं, जो ठीक ही हुआ, अन्यथा मेरा नाम भी इसी प्रकार मुफ़्त में (?) बदनाम होता ।

भट्ट जी ने इस पुस्तक के लेखक की व्यर्थ ही बड़ाई की है; और उसे निष्पक्ष समालोचना का नाम दे दिया है ।"[15]

इस छोटे से लेख का छपना 'चाँद' पत्रिका के लिए किसी वज्रपात से कम नहीं था । सरेआम चोरी पकड़ ली गयी थी । शायद यही कारण है कि इसके बाद 'चाँद' के अंकों में चतुर्वेदी जी के 'घासलेट आंदोलन' के ख़िलाफ़ लेख छपने लगभग बंद हो गए । इस ख़ुलासे ने 'घासलेट साहित्य' विरोधी आंदोलन को जीत दिला दी । इसने न सिर्फ़ समाज सुधार के प्रयासों को नुक़सा न पहुँचाया, बल्कि हिन्दी में लिखे जा रहे आत्मकथात्मक साहित्य की विश्वसनीयता पर ही सवालिया निशान लगा दिया । यौनिकता और शोषण के ये गम्भीर सवाल मज़ाक़ का विषय बनकर रह गए । हमें यहाँ ठहरकर 'अबलाओं का इन्साफ़' और इसके लेखक रामगोपाल मोहता पर विचार करना चाहिए ।

इनका सही नाम रामगोपालजी मोहता था । ये एक बड़े व्यापारी और घनश्यामदास बिरला के समधी थे । साथ ही 'चाँद पत्रिका' के नियमित लेखक भी । वे गीता के भाष्यकार के रूप में जाने जाते थे । स्त्री और दलितों के ऊपर वे लगातार लिख रहे थे । रामगोपाल मोहता के पिता का नाम श्री गोवर्धनदासजी मोहता था । इनका परिवार कराची में रहता था । ये उस वक़्त पश्चिमोत्तर प्रांत के सबसे बड़े उद्योगपति थे । इन्हें 'स्टील किंग' के नाम से भी जाना जाता था । वर्तमान पाकिस्तान के कराची का 'मोहट्टा पैलेस संग्रहालय' कभी मोहता परिवार का घर हुआ करता था । 1947 में विभाजन के बाद ये सपरिवार सबकुछ छोड़कर बम्बई चले गए । रामगोपाल मोहता का ज़िक्र एक 'स्कॉलर' के रूप में मिलता है । इन्होंने बहुत सी किताबें लिखी और सम्पादित की हैं । कुछ किताबें हैं, गीता का व्यवहार दर्शन, गीता विज्ञान, भगवान बुद्ध और महायोगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण, इशावास्य उपनिषद (व्यावहारिक भाष्य), समय की

---

[15] वही.

मांग (अथवा कृष्ण की क्रांति), प्रेम भजनावली, एक आदर्श समन्वयोगी आदि । इन्होंने 'मान पद्य संग्रह, तीन भागों में' का सम्पादन भी किया है ।

मोहता जी की एक और रचना है, 'दैवी-संपद' । यह 'चाँद कार्यालय' से ही प्रकाशित हुआ था । इस किताब में गीता के श्लोकों के सहारे समाज और स्त्री-पुरुषों की प्रकृति पर विचार किया गया है । 'अबलाओं का इंसाफ़' और 'दैवी संपद' में कोई अंतर नहीं है । यहाँ तक कि दोनों किताबों की शैली भी मिलती है । 'दैवी संपद' में 'अबलाओं की पुकार' नाम से मोहता जी ने 'लावनी तर्ज़' पर गीत भी लिखे हैं जो 'अबलाओं का इंसाफ़'[16] पुस्तक में लिखे 'क्षमा (सहनशीलता) देवी की बहस' जैसे ही है । 'पति भक्ति' पर विचार करते हुए 'दैवी संपद' में मोहता जी लिखते हैं,

"... पुरुष का पद स्त्री से बड़ा होता है अर्थात वह उसका पूज्य होता है और स्त्री को ऐसे पुरुष के संरक्षण में रहना और उसकी अनुगामिनी होना उचित है ।"[17] हम आगे देखेंगे की 'अबलाओं का इंसाफ़' में लेखक की प्रतिनिधि 'क्षमा देवी' भी बिल्कुल यही तर्क दोहराती हैं ।

रामगोपालजी मोहता एक 'शिक्षित' आधुनिक व्यापारी ही नहीं 'स्कॉलर' और स्त्री तथा दलितों के साथ सहानुभूति रखने वाले के रूप में भी जाने जाते थे । उनके लेखन को ध्यान से पढ़ने पर कुछ बातें स्पष्ट होती है । वे कट्टर हिन्दू थे । गीता को क़ुरान की तरह मानते थे । मनुस्मृति की सहायता भी लेते थे और उसकी शिकायत भी करते थे । वर्ण व्यवस्था के हिमायती थे । उन्होंने 'अबलाओं का इंसाफ़' में स्त्रियों की दुर्दशा का सबसे बड़ा कारण उसकी 'कामुकता' को माना है । वे स्त्रियों के आभूषण पहनने, सजने-सँवरने को उसके साथ होने वाले बलात्कार के लिए उसकी सहमति के रूप में देखते थे । इस किताब में जिन स्त्रियों का उदाहरण दिया गया है, वे सब अपनी यौन आकांक्षाओं को अपने 'पतन' का कारण मानती हैं । अगर स्त्रियाँ अपनी पसंद से किसी रिश्ते में जाती हैं, तो उनका और परिवार तथा समाज का नाश हो जाता है । यह 'अबलाओं का इंसाफ़' की मूल प्रस्थापना है ।

'अबलाओं का इंसाफ़' किताब की विषय वस्तु 'मनोहर कहानियाँ' और 'सरस सलिल' जैसी पत्रिकाओं में छपने वाली कहानियों से मेल खाती है । भले ही इसे आवरण पृष्ठ पर 'स्फूरना देवी' की आत्मकथा कहा गया हो, लेकिन किताब की वास्तविक विषयवस्तु ठीक कामसूत्र की तरह विविध प्रकार की नवधा, प्रौढा, परकीया, अभिसारिका आदि- आदि; नायिकाओं के कामुक चित्रण करने तथा 'कुट्टिनियों' के उत्तेजक वार्तालाप तक सीमित है । रीति साहित्य की तरह ही स्त्रियों के मुँह से ही उनके 'रूप- लावण्य' और 'यौवन' की बातें कहलाई गयी हैं, जो किताब को और भी अधिक 'उत्तेजक' और 'मनोरंजक' बनाती रही होंगी । 'सुशीला का बयान' अध्याय में एक पात्र सुशीला कहती है,

"मेरा रूप-लावण्य बहुत ही ऊँचे दर्जे का था । साथ ही मेरी बुद्धि भी चमत्कारक थी"[18] ... एक पुरुष मुख़्तारी का काम करता...उसकी लड़की ख़ूबसूरत नवोढ़ा थी । ... उसको भाई से मिलाने का काम मुझे ही सौंपा गया ।"[19] एक दूसरे अध्याय 'आनन्दी का बयान' में आनन्दी कहती है, "उस दुष्टा ने जब मेरा यौवन खिला देखा, तो उसे मुझे फाँसकर लाभ उठाने की फ़िक्र हुई ।"[20] आनन्दी आगे कहती है, "सेठ जी की लड़कियों पर भी नौकर लोग हाथ साफ़

---

[16] स्फुरना देवी, संपादन : नैया, (2013), अबलाओं का इन्साफ़, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली.

[17] रामगोपाल मोहता, (दूसरा संस्करण,1932), दैवी-संपद, सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर.

[18] स्फुरना देवी, अबलाओ का इन्साफ़, पृष्ठ 113.

[19] वही, पृष्ठ 116.

[20] वही, पृष्ठ 136.

किए बिना नही रहते । ...गहने भी पहनने को दिए, जिनसे मेरा रूप यौवन दूना हो गया । उधर विवाह में नित्य माल खाने को मिलते, अतः काम वासना का भी ज़ोर रहने लगा ।"[21]

अपने इंसाफ़ की 'भीख' माँग रही एक 'अबला' का इस भाषा में बात करना किसी को भी चक्कर में डाल देगा । लेखक ने स्त्री की भाषा को समझने और उसे बरतने की ज़हमत भी नहीं उठाई है । यह हाल आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के द्वारा इस किताब का सम्पादन करने के बाद है ! 'अबलाओं का इंसाफ़' में जिन स्त्रियों ने 'अपनी कहानी' कही है, उनमे से लगभग सभी ने यह स्वीकार किया है कि उनके साथ होने वाले 'व्यभिचार' और उनकी दुर्दशा का कारण उनकी अपनी कामुक प्रवृति है । इस किताब में स्त्री के हर एक दुखों का कारण उसकी यौनाकांक्षाओं को ठहराते हुए, उनकी दुरावस्था का ज़िम्मेदार उन्हीं को साबित किया गया है । पितृसत्ता हमेशा से यह तर्क देती रही है, लेकिन इस किताब में सबसे घृणित है, स्त्री कामुकता का उसकी दुरावस्था पर आरोपण ।

'अबलाओं का इंसाफ़' सवाल-जवाब की शैली में लिखी गयी है, जहाँ तरह-तरह की स्त्रियाँ अपनी यौन भावनाओं और 'कामुकता' की स्वीकारोक्ति 'धर्मराज' के सामने करती हैं और अंत में धर्मराज हिंदू धर्मशास्त्रों के आधार पर इन महिलाओं की 'यौनिकता' का दंड उन्हें सुनाते हैं । ये 'स्वीकारोक्तियाँ' ईसाई धर्म के उन्हीं यौन-कन्फ़ेशन्स की तरह हैं, जिनपर मिशेल फूको ने 'हिस्ट्री ऑफ सेक्सुएलिटी' में विचार किया है - विवाहेत्तर तथा 'अप्राकृतिक' कहे जाने वाले यौन सम्बन्ध । रामगोपालजी मोहता के पास अपना नाम प्रकट न करने के कारण यहाँ शर्मिंदगी की कोई वजह न थी । सो अतिशय यौनाचार की उनकी कल्पनाएँ वास्तविकता के सारे बंधन तोड़ती हुई, वर्तमान इंद्रजाल की यौन-कथाओं जैसी बन पड़ी है, जहाँ स्त्री के साथ हिंसा की पराकाष्ठा तक यौन कल्पनाएँ की जा सकती हैं और जिसमें स्त्री इस आत्मपीड़ा में ही 'यौनसुख' का अनुभव करती है । 'मस्क्यूलिनिटी' की यह हिंसक विशेषता 'अबलाओं का इंसाफ़' की प्रत्येक कहानी में मौजूद है । यहाँ एक उदाहरण दिया जाता हैं,

"प्रसव-पीड़ा से आराम होने पर मेरी काम-वासना फिर जागृत हुई; और मेरे पिता के गुरु-वंश के एक ब्राह्मण से, जो गुरु-यजमानी के नाते हमारे घर आया करता था, मेरा सम्बंध हुआ । उसका घर हमारे मुहल्ले ही में था; मैं नित्य उसके घर जाया करती; और उसके मार्फ़त कभी किसी धनाढ़्य के पास और कभी किसी के पास जाया करती । चार-पाँच साल तक इसी तरह काम चला । ... अनेक बार भंगी, चमार, मुसलमान और कसाइयों तक से सहवास करने का मुझे अवसर मिला है । दोपहर के समय मैं नित्य सुथारी के अड्डे में जाकर दो-तीन घंटे तक ठहरती और दो या तीन रुपए कमाकर घर चली आती । कुछ दिन बाद मुझे गर्भ रह गया । उसके गिराने में बहुत कष्ट हुआ; क्योंकि उस ब्राह्मणी कुटनी तथा सूथारी ने मेरी कुछ भी सहायता न की । जैसे-तैसे कर मैंने गर्भ गिराया । तब से मैंने सुथारी के अड्डे में जाना बंद कर दिया; और एक मुसलमानिन के अड्डे में जाने लगी । वहाँ मेरी फ़ीस प्रथम चार आना फिर दो आना और अंत में एक आना रह गयी, तो मैंने वहाँ जाना छोड़ दिया; और अपने गुरु उसी ब्राह्मण की भतीजी के साथ मेल किया । उसकी हालत मेरी ही तरह थी । वह और मैं दोनो मिलकर वृद्ध पुरुषों से मिलने लगीं; क्योंकि कोई युवा पुरुष हमें पसंद नही करता था; अड्डों में जाकर व्यभिचार करने से मुझे उपदंश आदि बीमारियाँ हो गयी थीं, जिससे मेरा गर्भाशय सड़ गया था; अतः मैंने अपनी साथिन की मदद से एक कम्पाउंडर से मेल किया और अस्पताल जाकर गर्भाशय कटवा डाला । अब गर्भ रहने की झंझट नहीं रही; और जो ही पुरुष मिला, उसी पर हाथ साफ़ करती रही ।"[22]

'गंगा का बयान' नाम की इस कहानी में गंगा इतनी अधिक 'कामुक' है कि प्रसव-पीड़ा से छुट्टी मिलते ही 'व्यभिचार' में रम जाती है । आगे चलकर जब 'अतिशय यौनाचार' से उसका गर्भाशय सड़ जाता है (जो उसके लिए

[21] वही, पृष्ठ 138.

[22] वही, पृष्ठ 130-31.

एक मामूली बात है), तो गर्भाशय कटवाकर 'निजात' पाते ही, वह मर्दों पर 'हाथ साफ़ करना' शुरू कर देती है । यौन-फैंटेसी की अपनी उड़ान में मोहता जी 'प्रसव गिराने' और गर्भाशय कटवाने से उपजी शारीरिक कठिनाइयों को भी भूल गए हैं, वह शारीरिक कष्ट जिससे होकर भुक्तभोगी महिला को गुज़रना पड़ता है । उनकी फैंटेसी में औरत एक मशीन की तरह है, जिसकी यौन आकांक्षाएँ विवाहेतर सम्बन्धों से भी संतुष्ट नहीं होती, और यौन आकांक्षाओं की पूर्ति स्त्री बस वेश्या बनकर ही कर सकती है ।

यही कारण है कि इस किताब को रूढ़िवादी मारवाड़ियों और 'सुधार विरोधी' बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे लोगों ने छूटते ही, अश्लील और घासलेट क़रार दिया और इसमें वे सफल रहे । स्त्री मुक्ति के 'समर्थक' और उसके 'विरोधी' के खाँचों में इतिहास को देखने के अपने ख़तरे हैं । वे लेखक और पत्रिकाएँ जो महिलाओं से जुड़े सवालों के झंडाबरदार होने के दावे किया करते थे, उनके लेखन और प्रकाशन को बड़ी सावधानी से देखने की ज़रूरत है । रामगोपाल मोहता 'चाँद' पत्रिका के संरक्षक की तरह थे । वे उस समय इस पत्रिका को हज़ारों और लाखों की सहायता देते थे । शायद इसलिए भी वे 'चाँद' पत्रिका के नियमित लेखक थे । उनके विचार और उनकी भाषा किशोरीदास वाजपेयी के शब्दों में कहें तो 'सड़ियल' ही क्यूँ न हो, पर सम्पादन करके भी छपते वही थे । उनकी किताब 'अबलाओं का इंसाफ़' को पढ़ने से जिस इतिहासदृष्टि का पता चलता है, उसे आज हम हिंदू साम्प्रदायिक इतिहासलेखन के रूप में जानते हैं । इस तरह के लेखन के बारे में चारु गुप्ता ने ठीक ही लिखा हैं,

"औपनिवेशिक उत्तर भारत में, विशेषकर उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में, मुसलमान पुरुषों का अवमूल्यन ख़ास कर स्त्री सम्बंधी शब्दावली में किया गया । मुसलमान मर्द बहुत बार बलात्कारी या अपहरणकर्ता दिखाया जाने लगा । इस दौर के अधिकांश हिंदी साहित्यकारों को साम्प्रदायिक या राष्ट्रवादी, मुसलमान समर्थक या विरोधी की श्रेणियों में नही डाला जा सकता । उनकी रचनाओं में परस्पर विरोधी रुझान देखे जा सकते हैं, पर वे सभी हिंदू और भारतीय दोनो को एक पर्यायवाची मानते लगते हैं । इन साहित्यकारों के घोषित विचार, मक़सद और मंज़िल चाहे जो भी रहे हों, उनके रुझानों में ख़तरनाक सम्भावनाएँ निहित थीं, और वे एक नए हिंदुत्ववादी राष्ट्रीय संचेतना के निर्माण में ख़ासी मदद कर सकती थीं । भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850-85), प्रतापनारायण मिश्र (1856-94) और राधाचरण गोस्वामी (1859-1923) जैसे कई प्रमुख हिंदी लेखक प्रायः मुसलमानो को हिंदू महिलाओं के बलात्कारी और अपहरणकर्ता के रूप में चित्रित करते थे । 1890 के दौर के लोकप्रिय हिंदी रचनाकारों की पहली पीढ़ी - देवकीनंदन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी और गंगाप्रसाद गुप्त - इन्हीं पूर्वाग्रहों का शिकार थी । इनमे मुसलमान मुख्यतः लम्पट, व्यभिचारी, अंध कामवासना के शिकार, धार्मिक रूप से कट्टर जैसे नज़र आते थे । अन्यता के इस विमर्श ने इस तरह की प्रभावशाली सांस्कृतिक रुढिबद्ध धारणाएँ तैयार कीं कि संदर्भ ख़त्म हो जाने पर भी वे अवचेतन के धरातल पर सक्रिय बनी रहीं ।"[23]

'अबलाओं का इंसाफ़' में सवर्ण हिंदू स्त्रियों की हीन दशा का एक बड़ा कारण मुसलमानों को माना गया है । इसकी भूमिका में 'क्षमा (सहनशीलता) देवी की बहस' नामक अध्याय को 'इस लेख (पुस्तक) का मार्मिक तत्व' कहा गया है । इसमें क्षमा देवी 'अबलाओं' का प्रतिनिधित्व करते हुए कहती हैं,

"बाल विवाह की प्रथा भारत में मुसलमानो का राज्य होने पर उनके अत्याचारों तथा तथा उनके सहवास से अनेक हिंदुओं के भी भाव दूषित हो जाने के कारण अभी तक मौजूद ही नहीं, किंतु विशेष प्रबलता पकड़ रहे हैं; क्योंकि हिंदू स्त्रियों पर मुसलमानों का अत्याचार अब भी जारी है; और हिंदू लोग उनकी रक्षा करने में अधिक निर्बल हो गए हैं ।"[24] इसी प्रसंग में क्षमा देवी आगे कहती हैं, "हिंदुओं की अगणित स्त्रियों पर मुसलमानों के अत्याचार होते हैं,

---

[23] चारु गुप्ता, प्रतिमान, वर्ष-2, खंड-2, अंक-2, पृष्ठ 498.

[24] स्फुरना देवी, संपादन : नैया, (2013), अबलाओं का इंसाफ़, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 176.

जिनसे हिंदू लोग ज़रा भी विचलित नही होते; परंतु मुसलमान-स्त्री पर कोई हिंदू आँख उठाकर भी नही देख सकता। यदि कोई देख ले तो सब मुसलमान फ़ौरन मरने-मारने को तैयार हो जाते हैं।"[25]

यह संप्रदायिकता के ज़बरदस्त उभार का समय था। 1925 में 'हिंदू महासभा' की स्थापना हो चुकी थी। मोहता जी कराची से थे और पश्चिमोत्तर प्रांत में साम्प्रदायिक दंगों की रफ़्तार बढ़ गयी थी। हमें इसी संदर्भ में क्षमा देवी के इन तर्कों को देखना होगा। 'अबलाओं का इन्साफ़' में हिंदू स्त्रियों के 'मुसलमानिन' हो जाने का अगणित बार ज़िक्र किया गया है। इसके ख़िलाफ़ हिंदुओं को ललकारा गया है। मुसलमान हिंदू स्त्रियों को बहला-फुसलाकर उन्हें मुसलमान बना देते हैं, यह तर्क आज कल के 'लव जेहाद' का आरम्भिक रूप था। यहाँ पर हमें आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता के प्रसार और उसकी प्रकृति पर थोड़ा विचार करना चाहिए। हिंदू स्त्रियों पर मुसलमानो के तथाकथित 'हमले' की कहानी गढ़ते हुए 'अबलाओं का इंसाफ़' जैसी रचनायें न सिर्फ़ साम्प्रदायिक इतिहास गढ़ रहीं थीं, बल्कि अपने समय में ज़बरदस्त साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण को बढ़ावा दे रहीं थीं।

यही वह समय था, जब स्त्रियों की शिक्षा के लिए बड़े पैमाने पर प्रयास किए जा रहे थे। 'स्त्री दर्पण' और 'चाँद' जैसी पत्रिकाएँ निकल रहीं थीं। महात्मा गांधी राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल होने के लिए महिलाओं का आह्वान कर रहे थे और महिलाएँ बड़ी संख्या में घर से बाहर निकल कर इसमें शामिल ही नहीं हो रहीं थीं, बल्कि नेतृत्व भी कर रहीं थीं। उस समय (1927) 'अबलाओं का इन्साफ़' जैसी किताब को प्रकाशित किया गया। इसे पढ़ते हुए लगता है जैसे घर से बाहर वहीं स्त्रियाँ निकलती थीं, जो या तो 'व्यभिचारी' होती थीं, या जिनके साथ 'व्यभिचार' अवश्य होता था। मतलब ये, कि सभ्य महिलायें तो घर से बाहर निकल ही नहीं सकतीं। यह काल्पनिक और जानबूझकर दुष्प्रचार के लिए किया गया चित्रण है। 'स्त्री आत्मकथा' की आड़ लेते हुए अश्लील और पूर्वाग्रहों से भरा यह वर्णन एक साम्प्रदायिक, स्त्री विरोधी और प्रतिक्रियावादी लेखन का प्रमाण है। स्त्री शिक्षा के आधुनिक प्रयासों का इस किताब में ज़ोरदार विरोध किया गया हैन। 'क्षमा देवी' कहती हैं,

"पिता का धर्म है कि बाल्यावस्था में कन्याओं को ऐसी शिक्षा दिलाए तथा ऐसे सहवास में रखे, जिससे वे बड़ी होने पर सदाचारणी बनी रहें। ... गार्गी, मदालसा, सीता, सावित्री, अनुसूया, दमयंती और तारा आदि की पुनीत कथायें प्रतिदिन पढ़ाकर नारी-धर्म का ज्ञान इनके कच्चे दिमाग़ में ही इस तरह जमा देना चाहिए कि फिर बुद्धि पकने पर अन्य बुरे भाव उनके हृदय में स्थान न करने पाएँ। सीना-पिरोना, अन्न तैयार करना, रसोई बनाना आदि गृहस्थी के कामों की आदत आरम्भ ही में डाल दी जाए, ताकि गृहिणी बनने के बाद घर का समस्त काम करने का उनका व्यसन सा हो जाए; और उन कामों में इतनी दत्त-चित्त रहें कि प्रमाद की तरह प्रवृत्ति जाने का अवसर ही न मिले। ... क्योंकि प्रमाद के कार्य तो स्त्रियों के स्वभाव से ही उत्पन्न हो जाते हैं, इनके सिखाने की आवश्यकता नही रहती।" [26]

क्या कोई 'अबला' कभी इस तरह का 'इन्साफ़' भी माँग सकती है ? स्त्री की यौनिकता पर नियंत्रण बनाए रखना पितृसत्ता के एजेंडे में हमेशा से रहा है। इसके पैरोकार अपने लेखन में स्त्रियों की स्वतंत्रता का हर सम्भव विरोध करते रहे हैं। जब इन्हें लगने लगा कि 'आधुनिकता' के कारण होने वाले बदलावों को वे रोक नहीं सकते तो उन्होंने भी 'सुधार' के अपने मानकों का प्रचार शुरू किया। ये समाज सुधार का नाम लेते हुए 'पितृसत्तात्मक मानकों' का ज़ोर-शोर से प्रचार करने लगे। रामगोपाल मोहता जैसे लोग हिंदू समाज में एक 'नियंत्रित सुधार' सुधार लाना चाहते थे। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की किसी नयी परिभाषा का विरोध करते हुए 'पतिव्रता धर्म' को ही नए सिरे से परिभाषित कर रहे थे। इनके 'पतिव्रताधर्म' को मानने वाली स्त्रियाँ, न सिर्फ़ अपने पति का ख़याल रखती हैं, बल्कि वे 'राष्ट्र' और 'हिंदू जाति' की सेवा भी करती हैं। ये बातें ज़ोर-शोर से प्रचारित की जा रही थी कि हिंदू समाज का वर्तमान और भविष्य इन्हीं के 'आचरणों' पर टिका है। मोहता जैसे सुधारक हिंदू स्त्रियों को आदर्श पत्नी, आदर्श

---

[25] वही, पृष्ठ 184.

[26] वही, पृष्ठ 145.

माता, आदर्श पुत्री और न जाने किन-किन 'आदर्शों' में ढालने का प्रयास कर रहे थे। 'अबलाओं का इंसाफ़' में लेखक की मुख्य चिंता स्त्रियों को सावधानी से बस में कर के रखने की है। ज़बर्दस्ती करके नहीं, क्योंकि इसके उलटे नतीजे सामने आने लगे थे। इसके लिए कन्या पाठशालाओं पर आक्रमण करते हुए 'क्षमा देवी' कहती हैं,

"जी हाँ, ये कन्या-पाठशालाएँ और विदेशी ढंग की स्त्री-शिक्षा अग्नि में घृत की तरह दुराचारों को बढ़ाने में सहायक होती हैं। ... उनकी विषय वासनाएँ बहुत बढ़ जाती हैं; और कुकर्म करने के साधनों और उपायों को सोचने और उनको काम में लाने में प्रवीण हो जाती हैं। कहीं-कहीं पाठशाला की शिक्षिकाएं हीन-आचरणों की युवतियाँ होती हैं, जो अपने प्रेमियों के साथ पत्र-व्यवहार करती रहती हैं; और उनके दुष्ट-चरित्र के पत्र-व्यवहार आदि की शिक्षा बालिकाएँ भी प्राप्त करती हैं।"[27]

स्त्री-शिक्षा को बदनाम करने की नियत से दिए गए ये घृणित, प्रतिक्रियावादी, पितृसत्तात्मक तर्क इस किताब की क़लई खोल देता है। स्त्री-शिक्षा से इन लोगों को इतनी घृणा थी कि वे शिक्षिकाओं के चरित्र-हनन तक करने से बाज़ नही आते थे। उस समय शिक्षिकाएँ वैसे भी कम हुआ करती थीं। इस तरह के आरोपों से वे किस तरह निपट पाती होंगी ये कहना मुश्किल है। 'अबलाओं का इंसाफ़' में पितृसत्ता की पैरोकारी करते हुए 'कन्या पाठशालाओं' और 'स्त्री-शिक्षा' को पूरी तरह से ख़ारिज किया गया है। इसमें स्त्री-शिक्षा को स्त्रियों में 'दुराचार' और 'कुकर्म' को बढ़ाने का माध्यम माना गया है। इस तरह के प्रतिक्रियावादी आक्षेप से यह पता चलता है कि स्त्री-शिक्षा महिलाओं को पितृसत्ता के चंगुल से निकलने में कितनी मदद कर रही थी। शिक्षित स्त्रियों को 'दुराचारी' और 'कुकर्मी' के रूप में बदनाम करके उन्हें समाज से काटने की साज़िश आज तक चल रही है। आज भी कोई स्त्री अगर अपने क्षेत्र में सफल होती है, तो उसके 'आचरण' को लेकर इसी तरह की अफ़वाहें उड़ाई जाती हैं। पितृसत्ता का यह तरीक़ा सफल भी रहा है। जो महिलाएँ स्त्री-जाति के लिए आदर्श होनी चाहिए थीं, उनपर पितृसत्ता इतने कीचड़ उछालती है कि वे घृणा की पात्र होकर रह जाती हैं।

इस किताब में स्त्रियों के घर से बाहर निकलकर सार्वजनिक जीवन में भागीदारी करने पर होनेवाली बदनामी का भय दिखाकर, उन्हें घर के भीतर रहने की सलाह दी गयी है। इसमें स्त्रियों के लिए 'पातिव्रत्य' और 'सदाचार' की जिस शिक्षा का इंतज़ाम किया गया है, उसके लिए घर से बाहर जाने की कोई ज़रूरत ही नही पड़ेगी। बड़ी दिलचस्प बात है कि जिस अंग्रेज़ी शिक्षा को 'दुराचार' और 'कुकर्म' को बढ़ाने का माध्यम माना गया है, वही शिक्षा पुरुष भी प्राप्त करते हैं, लेकिन इस बारे में पूरी किताब में कुछ भी नहीं लिखा गया है। जो शिक्षा पुरुष की प्रगति का माध्यम है वही शिक्षा स्त्री को 'दुराचारी' और 'कुकर्मी' बनाती है। यह पितृसत्ता की दोहरी तर्क प्रणाली का उदाहरण है।

मनुस्मृति को आदर्श मानते हुए 'अबलाओं का इंसाफ़' में स्त्री को किसी भी तरह की स्वतंत्रता देने का विरोध किया गया है। क्षमा देवी कहती हैं, "नहीं महाराज, मैं स्त्रियों को स्वतंत्रता देने का प्रतिपादन बिलकुल नही करती।"[28] स्त्रियों और पुरुषों के समान अधिकार होने चाहिए या नही इस प्रश्न पर वे कहतीं हैं, "नहीं महाराज, मैं पुरुषों और स्त्रियों के समान अधिकार का प्रतिपादन नही करती। ... स्त्री और पुरुष में जो प्राकृतिक भेद है, उसे कोई नही मेट सकता। स्त्री अपने पालन-पोषण एवं रक्षा करने के लिए स्वभाव ही से असमर्थ होती है और उसका मन एवं बुद्धि पुरुषों की अपेक्षा स्वाभाव ही से कमज़ोर एवं चंचल होते हैं। इसलिए उसको सदा पुरुष के संरक्षण एवं आश्रय में रहना नितांत आवश्यक है।"[29]

---

[27] वही, पृष्ठ 174-75.

[28] वही, पृष्ठ 156.

[29] वही, पृष्ठ 159-60.

इस तरह के तर्क स्त्रियों को 'अबला' मानने से ज़्यादा उन्हें 'अबला' बनाए रखने के लिए इस्तेमाल किए जाते हैं । पितृसत्ता के समर्थक स्त्रियों के जैविक रूप से कमज़ोर होने के तर्क को पूरी दुनिया में दुहराते आए हैं । धार्मिक पुस्तकों में भी इसी तरह के तर्क दिए गए हैं । इस तर्क की चरम परिणति होती है 'बलात्कार का भय' के रूप में । स्त्री बलात्कार नहीं कर सकती, इसलिए वह कमज़ोर होती है । पुरुष बलात्कार कर सकते हैं, इसलिए वे ताक़तवर होते हैं । दरअसल पितृसत्ता ने बलात्कार को शारीरिक हिंसा के रूप में न देखकर स्त्री की 'इज़्ज़त' और उसकी तथा उसके परिवार की 'प्रतिष्ठा' से जोड़कर इसे स्त्रियों पर अंकुश रखने का सबसे बड़ा हथियार बना लिया है । 'बलात्कार का भय' आज भी स्त्रियों की मुक्ति के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट है । बलात्कार की घटना होते ही नेता, पुलिस-प्रशासन से लेकर धर्मगुरुओं के द्वारा महिलाओं पर तरह-तरह के पाबंदियों की सिफ़ारिशों की बाढ़ आ जाती है । अकेले घर से बाहर न निकले, छोटे कपड़े न पहने, श्रृंगार न करे, दोस्ती न करे, किसी से मिले नही, अकेले न रहे आदि आदि । लेकिन सच्चाई तो ये है कि स्त्रियाँ कहीं भी बलात्कार से सुरक्षित नहीं हैं। हम ये भी जानते है कि स्त्रियाँ न तो जैविक रूप से और न ही मानसिक रूप से पुरुषों से कमतर हैं, पर ये भी सच है कि समाज विज्ञान ही नहीं विज्ञान की भी ढेरों स्थापनाएँ लैंगिक भेदभाव पर आधारित है । 'अबलाओं का इंसाफ़' में तो इस भेदभाव का 'आदिम' और 'बर्बर' रूप दिखाई देता है ।

इस किताब के शीर्षक को छोड़कर इसमें कहीं भी अबलाओं के इंसाफ़ के लिए बात नही की गयी है । लेखक को पुरुषों के 'पुनर्विवाह' और 'नियोग' के पक्ष में तर्क जुटाने थे । उन्हें लगता है कि इन दोनो प्रथाओं के लागू होते ही समाज की सारी समस्याओं का समाधान हो जाएगा । पर यह दूसरों को धोखे में डालने के लिए था । 'पुनर्विवाह' और 'नियोग' के पक्ष में तर्क देते हुए इन्होंने 'बाल विवाह' और 'वृद्ध विवाह' का समर्थन किया है ।

"बारह वर्ष से ऊपर की कन्याओं का अविवाहित रहना अशक्य है । ... यदि लड़के को अठारह वर्ष की उमर तक अविवाहित रखा जाए, तो उसका भी ब्रह्मचर्य अखण्डित रहना निश्चित नहीं हो सकता । ... कहने का प्रायोजन यह है कि जब तक समाज की वर्तमान स्थिति बनी रहेगी, बाल विवाह का रुकना और ब्रह्मचर्य की रक्षा होना असम्भव है । ... इसी तरह वृद्ध विवाह भी नहीं रुक सकते । ... जिसके शरीर में बल है, वह यदि पचास वर्ष की अवस्था में भी विवाह करे, तो उसके अनेक संतान हो जाती है; परंतु निर्बल शरीरवाला पुरुष पच्चीस वर्ष की आयु में विवाह योग्य नहीं रहता ।"[30]

यह पूरी किताब इस तरह के विकृत तर्कों और यौनाचार के वीभत्स चित्रों से भरी हुई है । 'बाल विवाह' और 'वृद्ध विवाह' के समर्थन में एक स्त्री पात्र 'क्षमा देवी' के माध्यम से लेखक ने जो तर्क पेश किए हैं, उनसे पितृसत्ता के एक अलग चरित्र का पता चलता है । जो धनवान वृद्ध हैं, वे कभी भी विवाह कर सकते हैं; लेकिन जो कमज़ोर और ग़रीब हैं, उन्हें विवाह करने का हक़ नहीं है । यह तर्क पितृसत्ता के जातीय ही नही, बल्कि उसके वर्गीय चरित्र की ओर भी इशारा करता है । पितृसत्ता ब्राह्मणवाद से बड़ी संरचना है और इसका एक वर्गीय आधार भी है । इस किताब में 'क्षमा देवी' साफ़-साफ़ कहती हैं कि ग़रीब और अस्वस्थ चाहे वह किसी भी जाति का हो उसे विवाह का अधिकार नही है । रामगोपाल मोहता बहुत बड़े व्यापारी और बिड़ला जी के समधी थे । वे हिंदू 'समाज-सुधारक' भी थे । 'समाज सुधार' की उनकी दृष्टि पर व्यापारी वर्ग के प्रतिनिधि होने का असर भी दिख रहा है । यह व्यापारी वर्ग जहाँ राष्ट्रीय आंदोलन में महात्मा गांधी और कांग्रेस के आंदोलन को समर्थन देकर, अपने हित को राष्ट्रीय हित (स्वदेशी) घोषित कर रहा था, वहीं हिंदू समाज सुधा र के प्रयासों पर नियंत्रण करते हुए, अपने वर्गीय हित को साधने के लिए ब्राह्मणवाद की वर्ण व्यवस्था को चुनौती भी दे रहा था । इन्हें ग़रीब सवर्णों से कोई सहानुभूति नही थी । राजनीति और समाज दोनो जगह ये शुद्ध वर्गीय हितों के पक्ष में खड़े थे और इन्हें दूसरी जातियों का भी सहयोग प्राप्त था । आधुनिक भारत की राजनीति और समाज को समझने के क्रम में इस सच्चाई को अनदेखा नहीं करना चाहिए ।

---

[30] वही, पृष्ठ 177.

'अबलाओं का इंसाफ़' में मनुस्मृति का सहारा लेते हुए 'बाल विवाह' का समर्थन किया गया है । तर्क है कि 'रजस्वला' (बारह वर्ष) होने के बाद कोई भी लड़की कुआँरी नहीं रह सकती । लड़के भी अठारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते । इसलिए 'बाल विवाह' ज़रूरी है । कम उम्र में लड़कियों की शादी से उनके स्वास्थ्य पर कितना घातक असर पड़ता है, इसके बारे में सोचने का मोहता जी के पास न तो समय था और न ही इसमें उनका कोई हित (फ़ायदा) सधने वाला था ।

यह पुस्तक औपनिवेशिक भारत में लैंगिक-सम्बन्धों के विषय में गम्भीर सवाल खड़े करती है - हिन्दी क्षेत्र में 'सुधार' का चरित्र क्या था ? क्या 'सुधारक' और 'सुधार -विरोधी' के बीच का संघर्ष एक छद्म था ? क्या तथाकथित घासलेट और घासलेट विरोधी का चरित्र एक ही था ? क्यों स्त्री के नाम से इस तरह की किताबें लिखी जा रही थी, जहाँ स्त्री अपने साथ होने वाले समस्त अन्याय की जड़ अपनी 'कामुक' प्रवृति और 'स्त्री शिक्षा' को मानती है ? क्यों रूढ़िवादी हिंदू पूँजीपति रामगोपालजी मोहता ज़ोर-शोर से स्त्री तथा दलित सम्बंधी प्रश्नो पर लेखन कर रहे थे ? क्या इस तरह की पुस्तकें, सार्वजनिक जगत में भागीदारी माँग रही महिलाओं और स्त्री लेखिकाओं को शर्मिंदा और असहज कर रही थीं ? क्या इस तरह के छद्म लेखन ने स्त्री लेखन की विश्वसनीयता को सवालों के घेरे में ला दिया ? क्या इस तरह के फ़िज़ूल विवादों ने समाज और साहित्य के असली प्रश्नो को बहस का हिस्सा बनने ही नहीं दिया ?

2013 में 'राधाकृष्ण प्रकाशन' ने 'अबलाओं का इंसाफ़' को फिर से प्रकाशित किया है । नये संपादक ने इसे 'आधुनिक हिंदी की प्रथम स्त्री आत्मकथा' का नाम दिया है । यही नहीं बल्कि दिल्ली विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में भी इसे 'आधुनिक हिंदी की प्रथम स्त्री आत्मकथा' के रूप में शामिल किया गया है तथा इस पर शोध भी हुए हैं । यह घटना 'हिन्दी में शोध की वर्तमान स्थिति' पर भी सोचने को बाध्य करती है । साहित्य में शोध का पहला चरण होता है, किसी भी रचना का 'पाठालोचन' । इसमें शोधार्थी रचना की वैधता का पता लगाते हैं । रचना कब लिखी गयी ? किसके द्वारा लिखी गयी ? कहाँ लिखी गयी ? पाण्डुलिपि या मूल-प्रति उपलब्ध है या नहीं ? रचना का कौन सा संस्करण उपलब्ध है ? वह संस्करण सम्पादित है या पुनर्मुद्रित ? आदि आदि । इन चरणों से गुज़रे बिना तो शोध की शुरुआत भी नहीं हो सकती । लेकिन आजकल श्रमसाध्य और गम्भीर शोध के बजाए 'हिन्दी साहित्य' के 'शोधार्थी' कुछ सनसनी या कोई 'प्रथम रचना' जैसी चीज़ों को खोजने के चक्कर में लगे रहते हैं । उन्हें लगता है, इससे वे तुरंत चर्चित हो जाएँगे । इस हड़बड़ी में रचना कैसी भी हो उसके बारे में तरह-तरह के दावे कर दिए जाते हैं । साहित्य में स्त्री से जुड़े प्रश्नो पर शोध करने का मतलब स्त्री की लिखी हुई किसी रचना को ढूँढ लेना मात्र नहीं होता । यह तो अब तक लिखे गए साहित्य के 'पुनर्पाठ' की माँग करता है, जो निश्चित रूप से गम्भीर और श्रमसाध्य कार्य है ।

बहरहाल, 'घासलेटी आंदोलन' के दो दशकों के बाद कुछ ऐसा ख़ुलासा हुआ जो मज़ेदार भी था और जो हमें आशान्वित भी करता है । 'घासलेटी साहित्य' विवाद के लगभग पच्चीस वर्ष के बाद 'चाकलेट' को पुनःप्रकाशित करते हुए उसकी भूमिका में उग्र जी ने लिखा,

"कलकत्ते में स्वर्गीय श्री बालमुकुन्द गुप्ता स्मृति-महोत्सव उस साल बड़े ठाटबाट से मनाया गया था । होगी बात सन 1949-50 की । उसी सिलसिले में अनेक अन्य साहित्यिक महारथियों के साथ 'प्रोपागैण्डिस्ट-प्रवर' पं० बनारसीदास चतुर्वेदी भी कलकत्ते पधारे हुए थे ।

चितरंजन एवेन्यू स्थित टीवड़े वाले की धर्मशाला में अनेक आगत साहित्यिक ठहराए गये थे । वहीं, मैं पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी से बातें कर ही रहा था कि अनेक मित्र और आ गये, जिनमें पं० बनारसीदास चतुर्वेदी भी थे । श्रीनारायणजी की बहकी बातों से फ़ुर्सत पाते ही बनारसीदास जी उनके सामने से उठकर मेरे निकट आ रहे । "उग्रजी" उन्होंने कहा - "आपकी पुस्तक 'चाकलेट' के बारे में गांधीजी की एक चिट्ठी मैंने दबा ली थी ।"[31]

और 'चतुरजी' मेरे चेहरे पर अपने कथन की प्रतिक्रिया ताड़ने लगे!

---

31 पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', (संस्करण1980), चाकलेट, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, भूमिका.

मुझे ठीक याद नहीं, मैंने उन्हें क्या उत्तर दिया । पर, यह अच्छी तरह याद है कि, मैं बिगड़ा नहीं । मैंने यही कहा होगा कि -"छोड़िये भी, अब उस चर्चा में सार नहीं ।" इसके पहले 'घासलेट'-आंदोलन-काल में पं० बनारसीदास पर मैं बमक उठता था । इस बार नहीं बिगड़ा, तो उन्होंने समझा कि 'उग्र' मर गया ! सो, महात्माजी को मृत मान और 'उग्र' को बेजान जान कर ही, माक़ूल मौक़ा देख, पत्रकारिता की पेंचदार-परतों में लपेट कर सन '51 में उन्होंने 'हिंदुस्तान' के विशेषांक में गांधीजी का वह पत्र छपवा दिया । मेरी मस्त निगाहों में 'हिंदुस्तान' का वह विशेषांक 8 महीने बाद याने '52 के जून में आया ।

....उस युग और देश से जिसने सत्यव्रत महात्मा गांधी को गोली मार दी, सत्यवान 'उग्र' की शिकायत हो ही क्या सकती है ?"[32]

बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा 2 अक्टूबर 1951, (गांधी-जयन्ती) के 'हिंदुस्तान' में गांधी जी के जिस पत्र को प्रकाशित कराया गया, वह इस प्रकार था,

"चाकलेट नामक पुस्तक पर जो पत्र था उसको मैंने 'यंग इण्डिया' के लिये नोट लिखकर भेज दिया । पुस्तक तो नहीं पढ़ा था : टीका केवल आपके पत्र पर निर्भर थी । मैंने सोचा इस तरह टीका करना उचित नहीं होगा पुस्तक पढ़नी चाहिए । मैंने पुस्तक आज खतम की; मेरे मन पर जो असर आप पर हुआ नहीं हुआ है । मैं पुस्तक का हेतु शुद्ध मानता हूँ । इसका असर अच्छा पड़ता है या बुरा मुझे मालूम नहीं है । लेखक ने अमानुषी व्यवहार पर घृणा ही पैदा की है। आपके पत्र की पेझ (पेज) अब खुल्वा दूँगा ।"

'यंग इण्डिया' पत्र की बाइंडिंग हो चुकी थी । चाकलेट के विरोध में लिखे गए बनारसीदास चतुर्वेदी का पत्र (रिव्यू) भी इस अंक में प्रकाशित हो रहा था । लेकिन जब गांधीजी ने उस पत्र को ग़लत पाया, तो उन्होंने यंग इण्डिया की बाइंडिंग खुल्वा के उसे निकलवा दिया ! शायद इसी लिए महात्मा गांधी की गिनती बीसवीं सदी के सबसे बड़े पत्रकारों में होती है । पत्रकारिता और ख़ासकर किसी पत्र का सम्पादन कितनी बड़ी ज़िम्मेवारी का काम है, इसे कोई गांधी जी से सीख सकता है ।

इसके बाद जो हुआ, वह इतिहास है । बनारसीदास चतुर्वेदी ने दो-ढाई दशकों तक जिस सच को छुपाए रखा, वह एक तरह से गांधी जी के विचारों और आदर्शों की हत्या थी और दुर्भाग्य से उनके सबसे नज़दीक रहने वाले व्यक्ति के द्वारा । उग्र जी के शब्दों में 'महात्मा जी को मृत जान और उग्र जी को बेजान जान' जब यह पत्र प्रकाशित हुआ तो बनारसीदास चतुर्वेदी की इतनी छी-छी हुई कि तमाम कोशिश के बाद भी, वह फिर से अपना खोया रुतबा नहीं पा सके । हिन्दी साहित्य के भीतर महात्मा गांधी के नाम पर 'अश्लीलता विवाद' का वितंडा खड़ा करके इन्होंने साहित्य को अकथनीय क्षति पहुँचायी है ।

इस पत्र के प्रकाशित होते ही लगा, जैसे महात्मा गांधी फिर से जी उठे । वे हिन्दी साहित्य के लिए प्रासंगिक हो गए । उन्हें लोग जिस पक्ष के साथ खड़ा समझ रहे थे, वे वहाँ थे ही नहीं; बल्कि वे दूसरे पक्ष के साथ थे । लेकिन यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि उनके जीते-जी यह न हो सका ! सबसे बढ़कर पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के लिए । लेकिन उन्हें बनारसीदास चतुर्वेदी जैसों से कोई शिकायत नहीं थी । उन्हीं के शब्दों में,

"...उस युग और देश से जिसने सत्यव्रत महात्मा गांधी को गोली मार दी, सत्यवान उग्र की शिकायत हो ही क्या सकती है ?"

संदर्भ

---

[32] वही.

1. रामगोपाल मोहता, (दूसरा संस्करण, 1932), सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर.
2. श्रीमती स्फुरना देवी, (1927), अबलाओं का इंसाफ़, चाँद कार्यालय, इलाहाबाद.
3. स्फुरना देवी, संपादन : नैया (2013), अबलाओं का इंसाफ़, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली.
4. फ़्रांचेस्का ऑर्सीनी, (2011), हिन्दी का लोकवृत्त : 1920-40, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.
5. चारु गुप्ता, (2014), स्त्रित्व से हिंदुत्व तक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
6. अभय कुमार दुबे, सं०, प्रतिमान, वर्ष-2, खंड-2, अंक-2.
7. रामरख सिंह सहगल, सं०, (1927-), चाँद, मासिक पत्रिका, इलाहाबाद.
8. बनारसीदास चतुर्वेदी, सं०, (1928-), विशाल भारत, कलकत्ता.
9. पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', (संस्करण1980), चाकलेट, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली.
10. बनारसीदास : समय के दर्पण में, रेडियो जीवनी, आकाशवाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.